अप्रैल १९९० हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

संवेदना

(११)

आभ्यांतरिक प्रपंच प्रक्रियाओंको बार देखते देखते विपश्यी साधक की भावनामयी प्रज्ञा पुष्ट होने लगती है। अब उसके लिए प्रज्ञा केवल श्रुतज्ञान या चिंतनज्ञान नहीं रह जाता। सत्य अनुभूति पर उतरता है तो ही प्रज्ञा भावनामयी प्रज्ञा कहलाती है। ऐसे व्यक्ति को प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा कुदरत के कानून याने प्रतीत्य समुत्पाद याने कारण-कार्यसंबंधी प्रकृती के नियम याने धर्म खूब समझ में आने लगता है। इसीलिए भावनामयी प्रज्ञा को चाहें तो ऋतंभरा प्रज्ञा भी कह सकते हैं। वह प्रज्ञा जो ऋत के ज्ञान से भरी हो। कुदरत के कानून का ज्ञान धारण किए हुए हो।

इस कल्याणकारी प्रज्ञा में साधक जैसे जैसे पुष्ट होता जाता है वैसे वैसे निकम्मी, निरर्थक तथा हानिकारक दार्शनिक मान्यताओं की जकड़न से, कर्मकांडोंके चिपकावसे और संप्रदायवाद, जातिवाद और क्षेत्रीयवाद के विष से स्वतः मुक्त होता जाता है। जिस सच्चाई को वह स्वयं अपने भीतर देखता है वही सच्चाई उसे बाहर भी सर्वत्र दीखने लगती है। वह देखता है कि जो कुदरत का कानून, जो ऋत, जो प्रतीत्य-समुत्पाद का नियम उस पर लागू होता है वही सब पर लागू होता है। जैसा भीतर, वैसा बाहर, जैसा बाहर वैसा भीतर। नियम नियम है, विधान विधान है। सब के लिए एक समान है। कोई लगाव नहीं, कोई अलगाव नहीं। कोई रुझाव नहीं, कोई दुराव नहीं।

किसी निम्न स्तर के राज्य का संवैधानिक नियम किसी जातिविशेष या संप्रदायविशेष या देशविशेष के लोगों के लिए पक्षपातपूर्ण हो सकता है। परन्तु किसी अच्छे राज्य का संवैधानिक नियम सब के लिए एक जैसा होता है। लेकिन नियम एक जैसा हो, तो भी उसके पालन में पक्षपात हो सकता है। परन्तु विपश्यी साधक देखता है कि प्रकृति के नियम पक्षपात-विहीन हैं। वे किसी का लिहाज नहीं करते, किसी को नहीं बख्सते। जो तोड़े सो ही दंडित हो, जो पाले सो ही पुरस्कृत हो।

एक व्यक्ति अपने मन में क्रोध जगाता है, द्वेष दुर्भावना जगाता है तो प्रकृति उसे तत्काल दंड देती है। मन में जागे हुए उस विकार के साथ साथ ही उसके शरीर में एक प्रकार का जीव-रसायनिक स्राव बहने लगता है जिससे शरीर में जो संवेदना होती है वह उसे बहुत व्याकुल बना देती है। इस प्रक्रिया में कहीं कोई भूल नहीं होती। देर भी नहीं होती।

प्रकृति के इस नियम को न समझने के कारण एक नासमझ व्यक्ति उस स्रावजन्य दुखद संवेदना के उत्पन्न होने पर अपने मानसिक विकार बढ़ाने लगता है। उसके मानसिक विकार बढ़ने पर यह स्रावजन्य संवेदना बढ़ने लगती है। ऐसा व्यक्ति देर तक मनोविकार के बहाव में बहता रहता है और परिणामतः देर तक दुखियारा रहता है। जितनी देर विकारों का क्रम चलते रहता है उतनी देर प्रकृति के विधान के अनुसार दुखी होने का दंड भुगतता ही रहता है। दंड देती हुई प्रकृति इस बात को नहीं देखती कि यह व्यक्ति किस जाति का है, किस संप्रदाय का है, किस वर्ण का है, किस देश-प्रदेश का है, कैसे कर्मकांड करता है, कौनसी दार्शनिक मान्यताएँ मानता है। कुदरत के बँधे-बँधाए नियम हैं। क्रोध जगाया कि तत्काल दंड मिला। जिस किसी ने जगाया, उसे ही दंड मिला।

इसी प्रकार प्रकृति का एक और नियम है। जब चित्त में सद्भावना जागती है तो प्रकृति की ओर से तत्क्षण पुरस्कार मिलता है। बड़ी सुख-शांति महसूस होती है।

विपश्यी साधक प्रकृती के इन नियमों को बखूबी जान लेता है। कोई भी व्यक्ति जो अपने भीतर यथार्थ को देखने का काम करेगा, वह इसे बखूबी जान ही लेगा। विपश्यना माने देखना ही होता है। जो देखे वह इस बात को समझ ही जाएगा कि मन को द्वेष-दुर्भावना से मैला करनेवाला व्यक्ति दुखी हो ही जाता है। क्योंकि अस्वस्थ हो जाता है। स्नेह-सद्भावना से मन को निर्मल करनेवाला व्यक्ति सुखी हो ही जाता है। क्योंकि स्वस्थ हो जाता है।

मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान के यह सर्व साधारण मूलभूत प्राकृतिक नियम हैं जो सब पर एक जैसे लागू होते हैं। यह ऐसे ही हैं जैसे शारीरिक स्वास्थ्य विज्ञान के सर्वसाधारण मूलभूत नियम। जैसे कि गंदे आहार-विहार से कोई व्यक्ति रोगी हो जाता है और स्वच्छ आहार-विहार से स्वस्थ रहता है। जैसे शरीर-स्वास्थ्य के नियम किसी का पक्षपात नहीं करते। सब पर समानरूप से लागू होते हैं। हिन्दू हो या बौद्ध, मुस्लिम हो या ईसाई, सिक्ख हो या पारसी, ब्राह्मण हो या शूद्र, बंगाली हो या बिहारी, हिन्दुस्तानी हो या पाकिस्तानी, अफगानी हो या ईरानी, चीनी हो या जापानी - साधारण स्वास्थ्य के नियम सब पर एक जैसे लागू होते हैं। कहीं कोई पक्षपात नहीं होता। मन मैला करते ही, व्यक्ति अस्वस्थ हो जाएगा, व्याकुल हो जाएगा और मन निर्मल करते ही स्वस्थ हो जाएगा, सुखी हो जाएगा।

कोई व्यक्ति बाहरी बनाव ठनाव ऐसा रखता है या वैसा, प्रकृति का नियम उस पर लागू होगा ही। कोई दाढ़ी मूंछ रखे या न रखे। कोई लंबे केश रखे या छोटे केश, या सारे केश कटवा ले। कोई इस रंग या इस आकार का वस्त्र पहने अथवा उस रंग या उस आकार का, इस बाहरी दिखावे के कारण प्रकृति उसे नहीं बख्शेगी। मन मैला करेगा तो अस्वस्थ होगा ही, दुखी होगा ही। मन निर्मल रखेगा तो स्वस्थ होगा ही। सुखी होगा ही।

इसी प्रकार इस या उस कर्मकांड को करनेवाला हो अथवा इस या उस दार्शनिक मान्यता को माननेवाला हो, प्रकृति का नियम तो उसी प्रकार लागू होगा। मन मैला करेगा तो अस्वस्थ होगा ही, दुखी होगा ही। मन निर्मल करेगा तो स्वस्थ होगा ही, सुखी होगा ही।

मन में विकार जगाना और अस्वस्थ हो जाना, अथवा विकार न जगाना और स्वस्थ रहना किसी जाति विशेष या वर्ण विशेष, संप्रदाय विशेष या किसी देशकालविशेष के व्यक्ति तक सीमित नहीं है। मन का विकारग्रस्त होकर अस्वस्थ हो जाना सर्वसाधारण का रोग है। उसे स्वस्थ करके स्वच्छ हो जाना सर्वसाधारण के लिए शक्य है, उपादेय है। क्योंकि यह सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक नियम है। जैसा बीज होगा वैसा फल होगा। जैसा कारण होगा, वैसा ही परिणाम होगा। प्रकृति का यह अटूट नियम है, यह कानून है। इसे ही धर्म कहते हैं। तभी कहा गया कि कारणोंसे उत्पन्न परिणाम को देखना, जानना धर्म को देखना जानना है। **यो पटिच्च समुप्पादं पस्सति सो धम्मं पस्सति। यो धम्मं पस्सति सो पटिच्चसमुप्पादं पस्सति।**

धर्म को देखता जानता है इसके माने यह नहीं कि बौद्ध धर्म को या हिन्दू धर्म को या जैन धर्म को देखता जानता है। बल्कि सार्वजनीन धर्म को, ऋत को देखता जानता है।

विपश्यी साधक अपने भीतर इसी प्राकृतिक धर्म का दर्शन करता है। वह देखता है कैसे बाहरी विषय को प्रिय अप्रिय मानते ही शरीर में सुखद दुखद संवेदना जागने लगती है। अस्वस्थ मन हो और कुदरत के इस कानून को न समझता हो तो इन्हीं संवेदनाओं के आधार पर प्रतिक्रिया करते हुए अपनी अस्वस्थता बढ़ाने का काम करने लगता है। सुखद संवेदना हो तो उसके प्रति राग पैदा करने लगता है और अपनी समता खो देता है। उसके प्रति द्वेष जगाने लगता है और अपनी समता खो देता है।

ऐसा व्यक्ति सदा अपनी अस्वस्थता बढ़ाते रहता है। अपना दुःख बढ़ाते रहता है।

विपश्यना द्वारा इस सच्चाई को देखते-देखते कोई व्यक्ति अन्तर्मन के इस स्वभाव को पलटने का काम करता है। चाहे जिस कारण से, चाहे जैसी संवेदना प्रकट हुई हो, स्वानुभूति द्वारा उसके अनित्य स्वभाव को देखकर न राग जगाता है, न द्वेष जगाता है तो अस्वस्थ मन को स्वस्थ बनाने लगता है। दुखी मन को सुखी बनाने लगता है। विपश्यना रूपी यह मानसिक कसरत कोई भी कर सकता है और एक जैसा लाभ ले सकता है। किसी संप्रदाय विशेष में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं होती। ठीक वैसे ही, जैसे कि विभिन्न प्रकार के आसन और अन्य शारीरिक व्यायाम करके शारीरिक स्वास्थ्यलाभ ले सकता है। उसे किसी संप्रदाय विशेष में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं होती।

ऊपर-ऊपर से मन को सुधारने की अनेक प्रक्रियाएं हैं जो सार्वजनीन हो भी सकती हैं और नहीं भी हो सकती। परन्तु मन की जड़ो से विकार निकालनेवाली विपश्यना साधना सार्वजनीन ही होगी। क्योंकि वह प्राकृतिक संवेदनाओं का सहारा लेकर काम करती है।

यदि व्यक्ति का मन जड़ो तक विकार-विमुक्त नहीं हुआ तो वह पूर्णतया स्वस्थ नहीं हुआ। रोग के ऊपरी-ऊपरी लक्षणों को दूर करने का ही काम करके रह जाएगा, जड़ो को भूला रहेगा। ऐसा व्यक्ति वस्तुतः निरोगी नहीं, रोगी ही रहेगा।

विकारग्रस्त व्यक्ति केवल अपने को ही दुखी नहीं बनाता, औरों को भी दुखी बनाता है। समय समय पर किसी न किसी विकार के उभर आने पर शरीर या वाणी से हत्या, चोरी, व्यभिचार, झूठ, निंदा, गाली-गलौज आदि दुष्कर्मों द्वारा औरों को भी दुखी बनाता रहता है। विकार-विमुक्त व्यक्ति का मन स्वस्थ रहने के कारण उसमें मैत्री, करुणा, सद्भावना आदि सद्गुण ही जागते हैं और वह न केवल अपने आपको सुखी, स्वस्थ रखता है, बल्कि अन्य लोगों के भी सुख का कारण बनता है।

विकारग्रस्त अस्वस्थ चित्त व्यक्ति अपने लिए ही नहीं, समाज के लिए भी एक अभिशाप बन जाता है। विकारमुक्त स्वस्थ चित्त व्यक्ति अपने लिए ही नहीं, समाज के लिए भी एक वरदान बन जाता है।

विपश्यना साधना व्यक्ति को स्वस्थ चित्त बनाकर स्वस्थ समाज के निर्माण में सहायक होती है।

विपश्यी साधक सचमुच साधना में प्रगति करता है तो सारे सांप्रदायिक बंधन, दार्शनिक मान्यताओं के जंजाल, जाति-पाति के भेदभाव निकम्मे निरर्थक लगने लगते हैं। हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि सांप्रदायिक नामों के विशेषणों से विमुक्त हुआ धर्म ही उसे महत्वपूर्ण लगने लगता है और वह चित्त-शुद्धि को ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य बना लेता है। सांप्रदायिक झगड़ों से दूर हो जाता है। वह खूब समझने लगता है कि मैलभरे मन का बैरभाव विकार जगाने से दूर नहीं होगा याने मैत्री जगाने से ही दूर होगा। यह धर्म है। यह सनातन धर्म है। **एस धम्मो सनंतनो।**

विपश्यना यही सनातन धर्म है और इसी के धारण करने में हमारा सही मंगल, कल्याण निहित है।

कल्याणमित्र,

स.ना.गो.